



वीतराग-विज्ञान (जून-मासिक) * 26 मई 2010 • वर्ष 28 • अंक 11



सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

नियमसार गाथा ४४

विगत गाथा में आत्मा को निर्दण्डादिरूप से निरूपित किया गया है और अब इस गाथा में उक्त आत्मा को निर्ग्रन्थादि विशेषणों के माध्यम से स्पष्ट करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

णिगन्थो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को ।

णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥४४॥

(हरिगीत)

निर्ग्रन्थ है नीराग है निःशल्य है निर्दोष है।

निर्मान-मद यह आत्मा निष्काम है निष्क्रोध है ॥४४॥

यह आत्मा निर्ग्रन्थ है, नीराग है, निःशल्य है, सर्व दोषों से रहित है, निष्काम है, निष्क्रोध है, निर्मान है और निर्मद है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ इस गाथा में भी जीव के शुद्धस्वरूप का कथन किया गया है।

शुद्धजीव बाह्याभ्यन्तर चौबीस प्रकार के परिग्रहों के परित्यागस्वरूप (अभाव-स्वरूप) होने से निर्ग्रन्थ है; सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेषात्मक चेतन कर्मों (भावकर्मों) के अभाव से नीराग है; माया, मिथ्यात्व और निदान - इन शल्यों के अभाव से निःशल्य है।

शुद्धनिश्चयनय से शुद्धजीवास्तिकाय के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का अभाव होने से शुद्धजीव सर्वदोषविमुक्त है।

शुद्धनिश्चयनय से उसे निजपरमतत्त्व की भी वांछा नहीं है; इसकारण वह शुद्ध जीव निष्काम है।

निश्चयनय से प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त परद्रव्यपरिणति के अभाव से निष्क्रोध, सदा परमसमरसीभावस्वरूप होने से निष्काम और निःशेषरूप से (पूर्णतः) अन्तर्मुख होने से निर्मद है।

उपर्युक्त विशुद्ध, सहजसिद्ध, नित्यनिरावरण, निजकारणसमयसार स्वरूप भगवान् आत्मा उपादेय है।”

उक्त गाथा का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ जीव को शुद्धजीवास्तिकाय कहा है। असंख्यप्रदेशात्मक शुद्धजीव कहो, कारणपरमात्मा कहो, ध्रुवस्वभाव कहो - सब एक ही हैं। जिस क्षेत्र में से अथवा जिसकी एकाग्रता से सम्यग्दर्शन पर्याय प्रकट होती है - वह असंख्यप्रदेशी जीव है, उसमें परिग्रह नहीं है।

बाह्य-अभ्यन्तर चौबीस परिग्रह पहले अस्तित्व में थे और बाद में उन्हें त्यागा - ऐसा यहाँ अर्थ नहीं है। परिग्रह का त्याग करना तो पर्याय में होता है। यहाँ पर्याय को गौण करके शुद्धजीव की बात चलती है।

धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्रादि दश प्रकार के बाह्य परिग्रह शुद्ध आत्मा में नहीं हैं। राग-द्वेषवाली पर्याय में वे पदार्थ निमित्तरूप से होते हैं; किन्तु यहाँ तो शुद्धस्वभाव की बात है। शुद्धस्वभाव में बाह्य परिग्रह के निमित्तपने का अभाव है।^१

ऐसे परिग्रहरहित होने से शुद्धजीव निर्ग्रन्थ हैं। यहाँ निर्ग्रन्थ अर्थात् मुनिदशा - ऐसा अर्थ नहीं है; किन्तु शुद्धजीव त्रिकाल निर्ग्रन्थस्वरूप है - उसकी बात है। इसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रकट होकर पर्याय में निर्ग्रन्थता प्राप्त होती है और शरीर में निर्ग्रन्थता - नग्नदशा शरीर के कारण हो जाती है।^२

परमशुद्धतत्त्व को ग्रहण करूँ - ऐसा राग स्वभाव में नहीं है, यह बात निष्काम के प्रकरण में आई थी। और राग की वृत्ति को छोड़ूँ - ऐसा द्वेष स्वभाव में नहीं है, यह बात निःक्रोध में आई है।

शुद्धस्वभाव निश्चयनय का विषय है और उसके आश्रय से विकार का अभाव होकर जो एकाग्रता प्रकट होती है, वह व्यवहारनय का विषय है।^३

अज्ञानी जीव चित्तनिरोध बाह्य से करना चाहते हैं; किन्तु बाह्यवस्तु से या शरीर की क्रिया से चित्त का निरोध नहीं होता है। मन तो जड़ है और उसके लक्ष से होने वाला राग विकार है - इन दोनों का आत्मा में अभाव है। आत्मस्वभाव राग-द्वेषरहित है; इसप्रकार उसकी अस्ति के बल से राग का अभाव होने पर चित्त का निरोध हो जाता है।

अपना शुद्धात्मा निश्चयनय का विषय है और उसके आश्रय से जो एकाग्रता की पर्याय प्रकट हुई, वह व्यवहारनय का विषय है।^४

इसप्रकार उक्त कथनानुसार विशुद्ध, सहजसिद्ध, नित्य, समस्त आवरणों से

१. नियमसार प्रवचन, आत्मधर्म अक्टूबर, १९७९, पृष्ठ १३

२. वही, पृष्ठ १३

३. वही, पृष्ठ १५

४. वही, पृष्ठ १५

रहित अपना कारणशुद्धात्मा ही एकमात्र अंगीकार करने योग्य है। पुण्य-पाप आदरणीय नहीं, शुद्धस्वरूप एक ही उपादेय है।

इसप्रकार अपने शुद्ध परमात्मा का आश्रय करे तो धर्मरूपी कार्य प्रकट हो। इसलिये वह एक ही उपादेय है।^१

उक्त गाथा में परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत परमपारिणामिकभाव रूप भगवान् आत्मा के निर्ग्रन्थादि जो भी विशेषण दिये गये हैं; वे सभी द्रव्यस्वभाव के हैं, पर्याय के नहीं। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व और क्रोधादि अंतरंग परिग्रह वर्तमान पर्याय में होने पर भी द्रव्यस्वभाव में नहीं है। उक्त द्रव्यस्वभाव में अपनापन स्थापित होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्याय प्रगट होती है और मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप विकारी पर्यायों का पर्याय में भी अभाव हो जाता है।

इसके बाद 'तथा श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है' - ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता छन्द)

इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः।
सञ्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव॥२१॥^२

(मनहरण कवित्त)

इस भाँति परपरिणति का उच्छेद कर।
करता-करम आदि भेदों को मिटा दिया॥
इस भाँति आत्मा का तत्त्व उपलब्ध कर।
कल्पनाजन्य भेदभाव को मिटा दिया॥
ऐसा यह आत्मा चिन्मात्र निरमल।
सुखमय शान्तिमय तेज अपना लिया॥
आपनी ही महिमामय परकाशमान।
रहेगा अनंतकाल जैसा सुख पा लिया॥२१॥

परपरिणति के उच्छेद और कर्ता, कर्म आदि भेदों की भ्रान्ति के नाश से जिसने शुद्धात्मतत्त्व उपलब्ध किया है; ऐसा वह आत्मा चैतन्यमात्ररूप निर्मल तेज में लीन होता हुआ अपनी ही सहज महिमा में प्रकाशमानरूप से सदा मुक्त ही रहेगा।

१. नियमसार प्रवचन, आत्मधर्म अक्टूबर, १९७९, पृष्ठ १६

२. प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका, छन्द ८

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“आत्मा परपदार्थों का अथवा परचैतन्य की अवस्थाओं का कर्ता तो है ही नहीं; क्योंकि वे सब परपदार्थ हैं, वे स्वयं अपनी-अपनी अवस्था रूप प्रतिसमय परिणामन करते हैं। तथा आत्मा की अपनी ही पर्याय में जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं, उनका आत्मा कर्ता और वे विकार आत्मा के कार्य - ऐसा कर्ता-कर्मपना भी शुद्धस्वभाव में नहीं है।

आत्मा त्रिकाल शुद्ध है - ऐसे भान द्वारा जो वीतरागी पर्याय प्रकट होती है, उसका कर्ता आत्मा है और वह वीतरागी परिणाम उसका कर्म है। आत्मा के द्वारा वह वीतरागी परिणाम किया जाता है, इसलिये आत्मा करण है; स्वयं ही अपने को धर्मदशा प्रदान करता है, इसलिये आत्मा ही सम्प्रदान है; अपने में से ही निर्मलता उत्पन्न होती है, इसलिये स्वयं ही अपादान है; और अपने ही आधार से निर्मलता होती है, इसलिये स्वयं ही अधिकरण है।

इसप्रकार छह कारकों के भेद के लक्ष से धर्म होगा - ऐसा मानना भी मिथ्या शल्य है।

अहो! अत्यन्त सूक्ष्म बात की है। शरीर, मन, वाणी; देव, शास्त्र, गुरु के लक्ष से तो धर्म है ही नहीं, पुण्य-परिणाम से भी धर्म नहीं; परन्तु अभिन्न छह कारकों के भेदपूर्वक विचार करने से राग होता है, धर्म नहीं होता। आत्मा शुद्ध चैतन्यवस्तु अभेद है; तथापि उसे भेदवाला मानना और उनके आधार से धर्म मानना वह भ्रान्ति है।”

इसप्रकार इस छन्द में यह बताया गया है कि जिस आत्मा ने परपरिणति के उच्छेद और कर्ता-कर्म संबंधी भ्रान्ति के नाश से शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा को उपलब्ध किया है; वह आत्मा स्वयं में ही समा जायेगा और दुःखों से सदा ही मुक्त रहेगा, प्रकाशमान रहेगा।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं एक छंद लिखते हैं; जो इसप्रकार है-

(मंदाक्रांता छन्द)

ज्ञानज्योतिः प्रहतदुरितध्वान्तसंघातकात्मा
नित्यानन्दाद्यतुलमहिमा सर्वदा मूर्तिमुक्तः।
स्वस्मिन्नुच्चैरविचलतया जातशीलस्य मूलं
यस्तं वन्दे भवभयहरं मोक्षलक्ष्मीशमीशम् ॥६९॥

(मनहरण कवित्त)

ज्ञानज्योति द्वारा पापरूपी अंधकार का ।
 नाशक ध्रुव नित्य आनन्द का है धारक जो ॥
 अमूर्तिक आत्मा अत्यन्त अविचल ।
 स्वयं में ही उत्तम सुशील का है कारक जो ॥
 भवभयहरण पति मोक्षलक्ष्मी का अति ।
 ऐश्वर्यवान नित्य आत्म विलासी जो ॥
 करता हूँ वंदना मैं आत्मदेव की सदा ।
 अलख अखण्ड पिण्ड चण्ड अविनाशी जो ॥६९॥

ज्ञानज्योति द्वारा पापरूपी अंधकार समूह का नाशक, नित्यानन्दादि अतुल महिमा का सदा धारक जो अमूर्तिक आत्मा स्वयं में अत्यन्त अविचलपने से उत्तमशील का मूल है; उस भवभय को हरनेवाले मोक्ष लक्ष्मी के ऐश्वर्यवान स्वामी निजकारण-परमात्मा को मैं वंदन करता हूँ ।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“निमित्त से अथवा पुण्य-पाप के विकार से तो धर्म होता नहीं, एक समय की शुद्ध पर्याय में से भी धर्म होता नहीं । शुद्धोपयोग धर्म है और वह धर्म पर्याय में है; किन्तु शुद्धोपयोगरूप धर्म की पर्याय शुद्धोपयोगरूप पर्याय में से नहीं आती; वह तो त्रिकाल शुद्धभाव जो सदा एकरूप है, उसमें से प्रकट होती है ।”

मध्य मंगलाचरण के रूप में समागत इस छन्द में त्रिकाली ध्रुव कारणपरमात्मारूप निज भगवान आत्मा को नमस्कार किया गया है; क्योंकि अज्ञानरूप अंधकार का नाश अपने आत्मा में अपनापन लाने, उसी को निजरूप जानने और उसी में समा जाने से ही होता है ।

नियमसार गाथा ४५-४६

विगत गाथा में जिस शुद्धात्मा को निर्ग्रन्थादिरूप बताया गया था; अब इन गाथाओं में उसी शुद्धात्मा को वर्णादि से रहित अरस-अरूपादिरूप बताते हैं ।

गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं -

वण्णरसगंधफासा थीपुंसणउंसयादिपज्जाया ।
 संठाणा संहणणा सव्वे जीवस्स णो संति ॥४५॥
 अरसमरूवमगंधं अब्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
 जाण अलिंगगहणं जीवमणिद्धिसंठाणं ॥४६॥

१. नियमसार प्रवचन, आत्मधर्म अक्टूबर, १९७९, पृष्ठ १८

(हरिगीत)

स्पर्श रस गंध वर्ण एवं संहनन संस्थान भी।
नर, नारि एवं नपुंसक लिंग जीव के होते नहीं ॥४५॥
चैतन्यगुणमय आत्मा अव्यक्त अरस अरूप है।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अर्निदिष्ट अशब्द है ॥४६॥

वर्ण, रस, गंध, स्पर्श और स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकदेव आदि पर्यायें तथा संस्थान और संहनन - ये सब जीव के नहीं हैं।

इस जीव को अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द और चेतना गुणवाला, अर्निदिष्ट संस्थान और अलिंगग्रहण जानो।

इन गाथाओं का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ इन दो गाथाओं में ऐसा कहा है कि परमस्वभावभूत कारण-परमात्मा का स्वरूप समस्त पौद्गलिक विकार समूह से रहित है।

निश्चय से पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्श और स्त्री, पुरुष, नपुंसकादि विजातीय विभावव्यंजनपर्यायें तथा कुब्जादि संस्थान, वज्रर्षभनाराचादि संहनन पुद्गलों के ही हैं, जीवों के नहीं।

संसारदशा में स्थावर नामकर्मयुक्त संसारी जीवों के अर्थात् स्थावर जीवों के कर्मफलचेतना होती है, त्रसनामकर्मयुक्त संसारी जीवों के अर्थात् त्रस जीवों के कार्य सहित अर्थात् कर्मचेतना सहित कर्मफल-चेतना होती है। कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा के शुद्धज्ञानचेतना होती है। इसी से कार्यसमयसार अथवा कारणसमयसार को सहजफल रूप शुद्धज्ञानचेतना होती है।

इसलिए सहजशुद्धज्ञानचेतनास्वरूप निज कारणपरमात्मा संसारावस्था में या मुक्तावस्था में सर्वदा एक होने से उपादेय है - ऐसा हे शिष्य तू जान!”

इन गाथाओं और उनकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“एक समय के विकार से रहित शुद्धभाव को कारणपरमात्मा कहते हैं।^१ केवली अथवा सिद्ध परमात्मा की यह बात नहीं है; किन्तु जिसके आधार से केवली अथवा सिद्ध कार्यपरमात्मा प्रगटे - ऐसे कारणपरमात्मा रूप निज आत्मा की बात है।^२

वास्तव में त्रिकाली आत्मा में लाल, पीले आदि वर्ण नहीं हैं। कोई कोई अज्ञानी जीव कहते हैं कि ध्यान में पीला दिखाई देता है, वह आत्मा का साक्षात्कार है; परन्तु

१. नियमसार प्रवचन, आत्मधर्म नवम्बर, १९७९, पृष्ठ १६

२. वही, पृष्ठ १६

वह भ्रम है। पीला तो रंग है, पुद्गल है, आत्मा में उसका अभाव है। आत्मा में खट्टा, मीठा आदि रस नहीं; कितने ही लोग सुधारस को आत्मा का रस कहते हैं, किन्तु भाई! वह तो जड़ का रस है, चैतन्यस्वभाव में वह रस नहीं है। शुद्ध आत्मा में सुगन्ध-दुर्गन्ध नहीं। स्त्री-पुरुष-नपुंसक आदि शरीर के आकार भी आत्मा में नहीं हैं। समचतुरस्र आदि संस्थान, वज्रर्षभनाराचादि संहनन आत्मा में नहीं - यह सब पुद्गल के हैं।^१

मूल गाथा में 'चेदणागुणम्' शब्द है; उसमें से एकेन्द्रिय जीवों को कर्मफलचेतना है, त्रस जीवों को कार्यसहित कर्मफलचेतना है और कार्यपरमात्मा तथा कारणपरमात्मा को शुद्धज्ञानचेतना है - इसतरह तीन प्रकार का अर्थ टीका में किया है।

एकेन्द्रिय-स्थावर जीव को कर्मफलचेतना है। कन्दमूलादि के जीव अपने शुद्धचैतन्यस्वभाव का भान चूक गए हैं, अतः शुद्धस्वभाव का अनुभव न करके अकेले विकारी फल का अनुभव करते हैं। निगोद का जीव शरीर को तो अनुभवता नहीं, किन्तु पर को मैं भोगता हूँ - ऐसी मिथ्या मान्यता का तथा विकार का अनुभव करता है। एकेन्द्रिय जीव को विकार मैं करता हूँ हूँ ऐसा भाव गौण है। वे तो मुख्यपने दुःख का अनुभव अथवा भोग कर रहे हैं।^२

त्रसनामकर्मयुक्त संसारी जीव को कार्यसहित कर्मफलचेतना होती है। दो इन्द्रिय से लगाकर पाँच इन्द्रिय तक के जीव त्रस हैं। उनमें कीड़ी, मकोड़ा, नारकी, देव, मनुष्यादि आ जाते हैं। वे जीव विकारी परिणाम के कार्य सहित हर्ष-शोक का अनुभव करते हैं।

इसप्रकार कर्मफलचेतना और कार्य सहित कर्मफलचेतना - दोनों अधर्मफल और संसार हैं।^३

कार्यपरमात्मा तथा कारणपरमात्मा को शुद्धज्ञानचेतना होती है। आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है - ऐसे कारणपरमात्मा का आश्रय करके, उसमें विशेष स्थिरता करके अपने में केवलज्ञान, केवलदर्शनादि दशा प्रगट की, उसे कार्यपरमात्मा कहते हैं। वह कार्यपरमात्मा केवली और सिद्ध हैं।

ऊपर मिथ्यादृष्टि जीवों की बात करने के बाद, आत्मा का भान करके जो कार्य को अभी साध रहे हैं - ऐसे साधकों की बात नहीं ली।

साधक को भी ज्ञानचेतना होती है, परन्तु आंशिक विकार और अपूर्णता है, अतः परिपूर्ण ज्ञानचेतना नहीं होती, इसलिये साधक की चर्चा यहाँ गौण की है। यहाँ

१. नियमसार प्रवचन, आत्मधर्म नवम्बर, १९७९, पृष्ठ १६

२. वही, पृष्ठ १६

३. वही, पृष्ठ १७

तो जिन्होंने पूर्ण कार्यरूप ज्ञानचेतना प्रगट की है - ऐसे केवली तथा सिद्धभगवान की बात ली है।^१

कारणपरमात्मा अर्थात् शक्तिरूप शुद्धस्वभाव निगोद से लगाकर सिद्ध तक के जीवों में एकरूप पड़ा है। त्रिकाल एकरूप भगवान को कर्मचेतना नहीं, कर्मफलचेतना नहीं तथा अपूर्ण शुद्धज्ञानचेतना भी नहीं; किन्तु शुद्धज्ञानचेतना उत्पाद-व्यय रहित एकरूप सभी जीवों के होती है। तुम्हें धर्म और आनन्द प्रगट करना है तो आत्मा में ज्ञान और आनन्द एकरूप पड़े हैं, उनका अवलम्बन लो।^२

उत्पाद-व्ययरहित ध्रुव एकरूपपर्याय शुद्धज्ञानचेतना जो त्रिकाल पड़ी है - उसकी बात चल रही है। उसके आधार से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यदशा अथवा कार्यशुद्धज्ञानचेतना प्रगट होती है। निगोद के जीव, मिथ्यादृष्टि जीव तथा अभव्य जीवों में भी कारणशुद्धज्ञानचेतना सदा पड़ी है; उसमें फेर-फार नहीं है।

मिथ्यादृष्टि जीवों को इसका भान नहीं और वे कारण का आश्रय करते नहीं, अतः उनको कार्यरूप फल प्राप्त होता नहीं।^३

त्रिकाल कारणपरमात्मा जो निगोद से लगाकर सिद्ध तक के सभी जीव हैं, उन सभी को सहजफलरूप शुद्धज्ञानचेतना होती है।

कारणपरमात्मा को शुद्ध ज्ञानचेतना अनादि-अनन्त एकरूप हैं; अतः उसके फलस्वरूप आनन्ददशा भी त्रिकाल एकरूप है।^४

केवली भगवान को तथा सिद्धों को सादि-अनन्तकाल रहनेवाली जो शुद्धज्ञानचेतना प्रगट हुई है; वह तो व्यवहारनय का विषय है। वह विषय जानने योग्य तो है, किन्तु अवलम्बन करने योग्य नहीं है। कारणपरमात्मा के शुद्धज्ञानचेतना है और आनन्द फलरूप चेतना है। ये दोनों चेतना अनादि-अनन्त हैं तथा निगोद से लेकर सिद्धों तक समस्त जीवों के हैं।^५

निगोद से लेकर सिद्ध तक के सभी जीव कारणपरमात्मा हैं, उनके शुद्धज्ञानचेतना अनादि-अनन्त हैं, उसमें कर्म के निमित्त की अथवा अशुद्धता की अपेक्षा नहीं है। भगवान की दिव्यध्वनि में यही उपदेश आया है कि इस कारणपरमात्मा के आधार से सम्यग्दर्शन, चारित्र्य, शुक्लध्यान, मोक्षदशा तथा आनन्ददशा प्रगटती है।^६

दृष्टि को दृष्टि आदरणीय नहीं; दृष्टि को शुक्लध्यान, केवलज्ञान अथवा सिद्धपद भी आदरणीय नहीं है; दृष्टि को तो सहजकारणपरमात्मा जो एकरूप है - वही आदरणीय है।^७

- | | |
|--|---|
| १. नियमसार प्रवचन, आत्मधर्म नवम्बर, १९७९, पृष्ठ १७ | २. वही, पृष्ठ १७ |
| ३. वही, पृष्ठ १७-१८ | ४. वही पृष्ठ १८ |
| ५. वही, पृष्ठ १९ | ६. नियमसार प्रवचन, आत्मधर्म दिसम्बर, १९७९, पृष्ठ १६ |
| | ७. वही, पृष्ठ १६ |

उक्त दो गाथाओं में समागत दूसरी गाथा, वही बहुचर्चित गाथा है, जो आचार्य कुन्दकुन्द के पंचपरमागमों में प्राप्त होती है। समयसार में ४९वीं, प्रवचनसार में १७२वीं, पंचास्तिकाय में १२७वीं, अष्टपाहुड़ के भावपाहुड़ में ६४वीं और इस नियमसार में ४६वीं गाथा के रूप में है।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी यह गाथा पाई जाती है। धवल के तीसरे भाग में भी यह गाथा है। पद्मनन्दिपंचविंशतिका एवं द्रव्यसंग्रहादि में यह उद्धृत की गई है।

इसप्रकार आत्मा का स्वरूप प्रतिपादन करनेवाली यह गाथा जिनागम की सर्वाधिक महत्वपूर्ण गाथा है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार की आत्मख्याति टीका में इस गाथा का अर्थ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त और अशब्द पदों के छह-छह अर्थ करते हैं और अनिर्दिष्ट-संस्थान पद के चार अर्थ करते हैं; किन्तु उन्होंने अलिंगग्रहण पद का अर्थ सामान्य सा करके ही छोड़ दिया है। प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में अलिंगग्रहण पद पर जोर दिया है, उसके २० अर्थ किये हैं।

समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय - इन तीनों ग्रंथों पर आचार्य अमृतचन्द्र ने संस्कृत भाषा में जो टीकायें लिखीं, उनमें से किसी भी टीका में इस गाथा का अर्थ करते समय चेतनागुण के संबंध में विशेष विस्तार नहीं किया है; किन्तु यहाँ इस गाथा का अर्थ करते समय मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव का ध्यान इसी पद पर केन्द्रित है, शेष पदों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला। इसके पूर्व की गाथा के अर्थ में ही इस गाथा के अरसादि विशेषणों को समाहित कर लिया है; क्योंकि उक्त गाथा में भी तो यही कहा है कि आत्मा में रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं है और इसमें भी यही कहा जा रहा है कि आत्मा अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्श है।

इसीप्रकार अन्य विशेषणों के बारे में भी विचार कर लेना चाहिए।

चेतनागुण विशेषण के संदर्भ में यहाँ चेतना के भेद कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना की चर्चा विस्तार से की है।

कहा गया है कि स्थावर जीवों के कर्मफलचेतना की प्रधानता है; क्योंकि सहज पुण्य-पाप के योग से उन्हें जो भी संयोग प्राप्त होते हैं, संयोगी भाव अर्थात् मोह-राग-द्वेषभाव होते हैं; वे तो उन्हें ही भोगते रहते हैं, उनका ही वेदन करते रहते हैं।

त्रस जीवों के कर्मचेतना सहित कर्मफलचेतना की प्रधानता होती है; क्योंकि पर में एकत्व-ममत्व होने से वे उनमें कुछ न कुछ करने और उन्हें भोगने के भावों में उलझे रहते हैं।

टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा गया है कि कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्मा को शुद्धज्ञानचेतना होती है। यह तो स्पष्ट है ही कि कारणपरमात्मा तो उस त्रिकाली ध्रुव

भगवान आत्मा को कहते हैं कि जो निगोद से लेकर मोक्ष तक के सभी जीवों के सदा विद्यमान है। यही कारण है कि वह शुद्धज्ञानचेतना सभी जीवों में विद्यमान है और सभी को परम उपादेय है; क्योंकि उसके आश्रय से ही यह संसारी आत्मा सिद्ध बनता है।

उक्त कारणपरमात्मा के आश्रय से जो अरहंत-सिद्धरूप परमात्म दशा प्रगट होती है; उसे कार्यपरमात्मा कहते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि यहाँ कर्मचेतना और कर्मफलचेतना की मुख्यतावाले अज्ञानी जीवों और शुद्धज्ञानचेतनावाले अरहंत-सिद्धरूप पूर्ण ज्ञानियों की चर्चा तो की; किन्तु साधकदशा में विद्यमान जीवों की बात नहीं की।

इसके संदर्भ में विशेष स्पष्टीकरण स्वामीजी के उद्धरण में आ गया है। अतः यहाँ कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं है।

मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसके बाद 'तथा एकत्वसप्तति में भी कहा है' - ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्था
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः साऽपि भिन्नं तथैव ।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यतच्च भिन्नं मतं मे
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत् ॥२२॥^१

(रोला)

जड़ कर्मों से भिन्न आत्मा होता है ज्यों ।

भावकर्म से भिन्न आत्मा होता है त्यों ॥

सभी स्वयं के गुण-पर्यायों से अभिन्न हैं ।

परद्रव्यों से भिन्न सदा सब ही होते हैं ॥२२॥

आचार्य पद्मनन्दी कहते हैं कि मेरा मत (मन्तव्य) ऐसा है कि जिसप्रकार आत्मा भिन्न है और उसका अनुगमन करनेवाला कर्म भिन्न है; उसीप्रकार आत्मा और कर्म की अति निकटता से जो विकार होता है, वह भी आत्मा से भिन्न ही है तथा काल-क्षेत्रादिक जो भी हैं, वे सभी आत्मा से भिन्न हैं। अपनी-अपनी गुण कला से अलंकृत ये सभी भिन्न-भिन्न ही हैं। तात्पर्य यह है कि अपने-अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न सभी द्रव्य परस्पर अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं।

स्वामीजी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जैसे आत्मा और कर्म भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही आत्मा और विकार भी भिन्न-भिन्न हैं - ऐसा कहकर विकार पर से दृष्टि हटाई है और शुद्ध चैतन्य की दृष्टि कराई

१. आचार्य पद्मनन्दी कृत पद्मनन्दिपंचविंशतिका के एकत्वसप्तति नामक अधिकार का ७९वाँ छंद

है। विकार, कर्म और निमित्त की रुचि मत कर, किन्तु त्रिकाली स्वभाव की रुचि कर - ऐसा कहने का आशय है।^१”

इसप्रकार एकत्वसंप्रति के इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यही कहा गया है कि सभी पदार्थ अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न और परद्रव्य और उनके गुण-पर्यायों से पूर्णतः भिन्न हैं। यह तो ठीक; किन्तु कर्मोदय के निमित्तपूर्वक होनेवाले मोह-राग-द्वेषादि भावों से भी यह आत्मा भिन्न ही है। अतः आत्मार्थी भाई-बहिनों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे परपदार्थों में संलग्न उपयोग को वहाँ से हटाकर निज भगवान आत्मा में लगावें।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छंद स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है-
(मालिनी)

असति च सति बन्धे शुद्धजीवस्य रूपाद्
रहितमखिलमूर्त्तद्रव्यजालं विचित्रम् ।
इति जिनपतिवाक्यं वक्ति शुद्धं बुधानां
भुवनविदितमेतद्भव्य जानीहि नित्यम् ॥७०॥
(रोला)

अरे बंध हो अथवा न हो शुद्धजीव तो ।
सदा भिन्न ही विविध मूर्त्त द्रव्यों से जानो ॥
बुधपुरुषों से कहे हुए जिनदेव वचन इस ।

परमसत्य को भव्य आतमा तुम पहिचानो ॥७०॥

बंध हो या न हो अर्थात् चाहे बंधावस्था हो, चाहे मोक्षावस्था हो - दोनों ही अवस्थाओं में अनेकप्रकार के मूर्त्त पदार्थों के समूह शुद्धजीव के रूप से अत्यन्त भिन्न हैं। बुधपुरुषों से कहा हुआ जिनदेव का ऐसा शुद्धवचन है। जगप्रसिद्ध इस परमसत्य को हे भव्य तू सदा जान ।

इस छन्द का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“संसारदशा के समय बन्ध का निमित्त पुद्गल कर्म हो अथवा मोक्षदशा के समय कर्म का अभाव निमित्त हो; परन्तु समस्त विचित्र मूर्त्तकर्मों का समूह शुद्धजीव के रूप से जुदा है। कर्म भले ही आत्मा के साथ एक क्षेत्र में हों; किन्तु आत्मा उस समय भी उससे त्रिकाल भिन्न है।^२”

एक समय के विकार को गौण कर दिया जाय तो संसार में रहनेवाले सभी आत्मा अशरीरी सिद्ध सदृश शुद्ध ही हैं।^३

१. नियमसार प्रवचन, आत्मधर्म दिसम्बर, १९७९, पृष्ठ १७

२. वही, पृष्ठ १८ ३. वही, पृष्ठ १९

आत्मा में आनन्दशक्ति भरी है - यह प्रथम निश्चय करे। एक समय के विकार को गौण करे तो ज्ञान और आनन्द से यह आत्मा भरपूर है - ऐसी प्रतीति उत्पन्न हो, पश्चात् उसमें एकाग्रता करें तो शक्ति में से आनन्द आदि पर्यायें प्रगट हों और आनन्द अनुभव में आवे।

इसलिये आत्मा परपदार्थ से जुदा है, किसी का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है तथा राग-द्वेष भी मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा स्वरूप अनन्तज्ञान-दर्शनादि ही है, मेरा स्वभाव स्व-परप्रकाशक है; जगत के पदार्थों को, मेरे में रहने वाली अपूर्णता को, तथा राग को जानने का उसका स्वभाव है - ऐसा प्रथम निर्णय करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो और एकाग्रता करने पर चारित्र प्रगट होकर केवलज्ञान हो और फिर उस केवलज्ञान का कभी नाश न हो।^१”

इस छन्द में मात्र यही कहा गया है कि हे भव्यजीवो ! जिनदेव द्वारा कहे गये इस जगप्रसिद्ध परमसत्य को जानो, पहिचानो कि हर हालत में यह शुद्ध आत्मा अनेकप्रकार के समस्त परद्रव्यों से भिन्न है। ऐसे ज्ञान-श्रद्धान से, आचरण से अनंत अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है।

नियमसार गाथा ४७

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि आत्मा में वर्णादि भाव नहीं हैं, वह अरस-अरूपादि भावों से संयुक्त चेतनागुणवाला है; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से संसारी और सिद्ध जीवों में कुछ भी अन्तर नहीं है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति ।

जरमरणजम्ममुक्का अट्टगुणालंक्रिया जेण ॥४७॥

(हरिगीत)

गुण आठ से हैं अलंकृत अर जन्म-मरण-जरा नहीं ।

हैं सिद्ध जैसे जीव त्यों भवलीन संसारी कहे ॥४७॥

जैसे सिद्ध जीव जन्म, मरण और जरा से मुक्त तथा आठ गुणों से अलंकृत हैं; वैसे ही तुम भवलीन संसारी जीवों को जानो।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह कथन शुद्धद्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से संसारी जीव और मुक्त जीवों में अन्तर न होने का है।

जो कोई अत्यासन्न भव्यजीव; पहले संसारावस्था में संसारक्लेश से थके चित्तवाले होते हुए सहज वैराग्यपरायण होने से द्रव्यलिंग और भावलिंग को धारण करके, परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त परमागम के अभ्यास द्वारा सिद्धक्षेत्र को प्राप्त करके, अव्याबाध सकल विमल केवल-ज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य युक्त सिद्ध हो गये हैं; वे सिद्धात्मा कार्यसमयसाररूप हैं, कार्यसिद्ध हैं।

जिसप्रकार वे सिद्ध भगवान् शुद्ध हैं; उसीप्रकार शुद्धनिश्चयनय से संसारी जीव भी शुद्ध हैं। जिसकारण से अर्थात् जिस अपेक्षा से वे संसारी जीव सिद्धसमान हैं; उसीकारण से अर्थात् उसी अपेक्षा से वे संसारी जीव जन्म-जरा-मरण से रहित हैं और सम्यक्त्वादि आठ गुणों की पुष्टि से तुष्ट हैं।^१

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी इसके भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“जैसे परमानन्द दशा को प्राप्त सिद्ध भगवान् हैं, वैसे संसारी जीव शक्तिरूप से हैं। अशरीरी सिद्धदशा प्रगट करने की शक्ति प्रत्येक जीव में है। इस गाथा में एक समय की पर्यायबुद्धि छुड़ाई है। वस्तुदृष्टि से देखा जाय तो संसारी जीव भी जन्म-जरा-मरण से रहित हैं तथा अष्ट गुणों से अलंकृत हैं। इसकी प्रतीति करने से सम्यग्दर्शनादि प्रगट होकर सिद्धदशा की प्राप्ति होती है।^२

भगवान् की वाणी में ऐसा कहा गया था कि अपनी पर्याय को शुद्ध स्वभाव में लगा तो स्थिरता से शुक्लध्यान प्रगट होकर केवलज्ञान प्रगट होगा। इसप्रकार गुरु की वाणी का कहने का आशय स्वयं समझ लिया और अपनी श्रुतज्ञान की पर्याय को स्वभाव में एकाकार किया।^३

संसारी की विकारी पर्याय है तथा सिद्ध की व्यक्त मोक्षपर्याय है। यदि इन पर्यायों को गौण करके देखा जाय तो संसारी जीव भी सिद्धसदृश हैं, शुद्धनिश्चयनय से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है।^३

शुद्धनिश्चयनय से विकार को गौण करके संसारी जीव को सिद्ध समान कहा था; उसी दृष्टि से देखा जाय तो संसारी जीव जन्मता नहीं, मरता नहीं और उसको बुढ़ापा भी नहीं, तथा उसी दृष्टि से वह सम्यक्त्वादि आठ गुणों की समृद्धि से आनन्दमय हैं। परवस्तु का आत्मा में त्रिकाल अभाव है, एक समय मात्र के विकार को, अपूर्ण पर्याय को गौण करके अभूतार्थ कहकर त्रिकाली भूतार्थ शुद्धस्वभाव में उसका अभाव बताया है - द्रव्यदृष्टि कराई है।^४

जैसे सिद्ध भगवान् हैं, वैसे ही संसारी जीव शक्तिरूप से हैं। संसारदशा में होने वाला विकार एक समय का है, दो समय का विकार कभी एकत्र नहीं होता। विकार

१. नियमसार प्रवचन, आत्मधर्म जनवरी, १९८०, पृष्ठ १५

२. वही, पृष्ठ १६

३. वही, पृष्ठ १७

४. वही, पृष्ठ १८

को मुख्य करे तो स्वभाव का अनादर हो जाता है और त्रिकाली स्वभाव को मुख्य करे, एक समय के विकार को गौण करे तो धर्मदशा प्रगट होती है।^१”

उक्त गाथा में परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से संसारी और सिद्ध जीवों में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि सभी जीवों के द्रव्यस्वभाव में तो कोई अन्तर है ही नहीं और वर्तमान पर्यायों में जो अन्तर है, यह नय उन पर्यायों को ग्रहण नहीं करता। अतः इस नय की दृष्टि से संसारी और सिद्धों में कोई अन्तर नहीं है - यह बताया गया है।

टीकाकार मुनिराज ने इसकी टीका के अन्त में एक छन्द लिखा हैं; जो इसप्रकार है-

(अनुष्टुप्)

प्रागेव शुद्धता येषां सुधियां कुधियामपि ।
नयेन केनचित्तेषां भिदां कामपि वेद्म्यहम् ॥७१॥

(दोहा)

पहले से ही शुद्धता जिनमें पाई जाय।
उन सुधिजन कुधिजनों में कुछ भी अंतर नाय ॥
किस नय से अन्तर करूँ उनमें समझ न आय।
में पूँछूँ इस जगत से देवे कोई बताय ॥७१॥

जिन सुबुद्धियों को तथा कुबुद्धियों को पहले से ही शुद्धता विद्यमान है तो मैं उन सुबुद्धियों और कुबुद्धियों में अन्तर किस नय से जानूँ ?

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“सुबुद्धि की एक समय की सम्यक्त्व पर्याय को तथा कुबुद्धि की एक समय की मिथ्यात्व पर्याय को गौण करके देखा जावे तो दोनों के स्वभाव में कोई भेद नहीं है; एकरूप शुद्धभाव पड़ा है।^२”

अतः दोनों ही पर्यायों का लक्ष छोड़कर निगोद और सिद्ध में एकरूप शुद्धभाव पड़ा है, उसके ऊपर दृष्टि कर। शुद्ध कारणस्वभावभाव ही धर्म का कारण है।^३”

उक्त छन्द में भाषा तो ऐसी है कि जैसे टीकाकार मुनिराजश्री को उस नय का पता नहीं है, जिस नय से सुबुद्धि और कुबुद्धियों में महान अन्तर है; पर बात ऐसी नहीं है।

ऐसा कहकर वे यह कहना चाहते हैं कि जब परमशुद्धनिश्चयनय की स्वभावदृष्टि ही परमार्थ है अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग और मोक्ष की उत्कृष्टतम साधक है तो मैं व्यवहारनयाश्रित पर्यायदृष्टि से क्यों देखूँ, पर्यायदृष्टि को मुख्य क्यों करूँ?

तात्पर्य यह है कि यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति करनी है तो सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों को परमशुद्धनिश्चयनय की इस स्वभावग्राही परमार्थदृष्टि को ही मुख्य करना चाहिए।

१. नियमसार प्रवचन, आत्मधर्म जनवरी, १९८०, पृष्ठ १८

२. वही, पृष्ठ १९ ३. वही, पृष्ठ १९

